SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

शैक्षिक सुधार और भारतीय शिक्षा नीति

शिल्पी सिंह, शोधार्थी, **कमलेश चंद्र प्रसाद,** Ph.D., शोध निर्देशक, शिक्षा विभाग
साईनाथ विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Authors
शिल्पी सिंह, शोधार्थी
कमलेश चंद्र प्रसाद, Ph.D.

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 15/04/2024
Revised on : -----
Accepted on : 18/06/2024
Overall Similarity : 04% on 08/06/2024

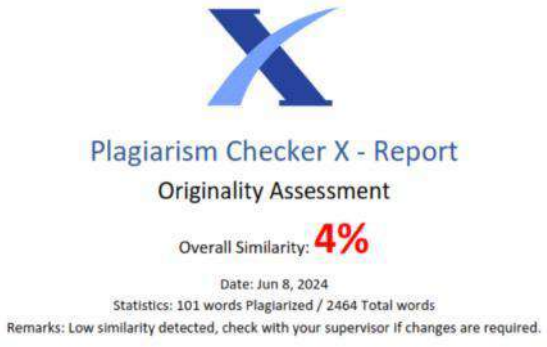

शोध सार

आधुनिक शिक्षा लॉर्ड टी.बी. मैकाले के 1835 के मिनट्स के साथ शुरू हुई थी और 1937 तक उसमें कई उतार–चढ़ाव आए। महात्मा गांधी ने मूक सामाजिक परिवर्तन लाने ग्रामीण–शहरी विभाजन–को कम करने गरीब छात्रों में आत्मविश्वास पैदा करने कार्य एवं पेशेगत शिक्षा को प्रोत्साहित करने और छात्रों के नैतिक बल के विकास के लिए बुनियादी शिक्षा या नई तालीम के प्रति एक व्यापक नजरिया अपनाने की पैरवी की थी लेकिन अनियमित शुरुआत के साथ बुनियादी शिक्षा की योजना पूरे देश में लागू नहीं की जा सकी। सन् 1947 के बाद शिक्षा नीति के निर्माताओं ने अपना ध्यान पहले विश्वविद्यालीय शिक्षा (1948–49) फिर माध्यमिक शिक्षा (1951–53) और फिर समग्र शिक्षा पर केंद्रित किया। राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने (1964–66) में कई योजनाओं की पेशकश की जो 1968 और 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति की नींव बनीं लेकिन राष्ट्रीय शिक्षा नीति में गांधीजी के इन शब्दों को भुला दिया गया ''बुनियादी तालीम का यह कार्य मेरे जीवन का आखिरी काम है। यदि ईश्वर की कृपा से यह काम पूरा हो जाता है तो हिंदुस्तान पूरी तरह से बदल जाएगा।''इन शब्दों को आज भी हमारी सरकार ने भुला दिया लगता है। वर्तमान में जो सुधार लाए जा रहे हैं वे मूल्य आधारित नहीं हैं और उनकी उपयोगिता भी नाममात्र की है। इस आलेख में शैक्षिक सुधारों पर विहंगम दृष्टि डाली गई है और यह पता लगाने का प्रयास किया गया है कि हम किस दिशा में जा रहे हैं।

मुख्य शब्द

शैक्षिक सुधार, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, शिक्षक प्रशिक्षण, भारतीय संविधान, प्राथमिक शिक्षा, मूल्यांकन.

भूमिका

भारतीय संविधान के निर्देशक सिद्धांतों के तहत 14 वर्ष की उम्र तक के बच्चों को निः शुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रावधान है। सन् 1948 में देश के शीर्ष नेता प्राथमिक शिक्षा के महत्व से अच्छी तरह वाकिफ थे लेकिन प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा आयोग का गठन विश्वविद्यालीय शिक्षा को ध्यान में रखते हुए किया गया। यह स्पष्ट रूप से प्राथमिकताओं के बीच असंगति दर्शाता है। यदि हमने प्राथमिक शिक्षा के लिए आयोग का गठन किया होता तो 1960 तक हमारी शिक्षा की स्थिति बहुत कुछ सुधर गई होती। अगर हम प्रगति रिपोर्ट देखें तो पाएंगे कि हमारी रफ्तार बहुत धीमी रही है।

वर्ष				
	बालक	बालिकाएं	बालक	बालिकाएं
1950–51	60.6	24.8	20.6	04.6
1960–61	82.6	41.4	33.2	11.3

(स्त्रोतः एन सी आर टी 2001, पृ. 39)

वर्तमान अवलोकन (2009–2010) में भी स्कूली शिक्षा को हाशिए पर डाल दिया गया है और इसमें ज्ञान विज्ञान, साहित्य के एकीकृत परिप्रेक्ष्य का अभाव है। इसमें जैन धर्म के नजरिए, सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक चरित्र का भी अभाव है। सी.पी. स्नो ने अपनी पुस्तक टू कल्चर्स में कहा भी है कि विज्ञान के विशेषज्ञ और कला एवं मानविकी के विशेषज्ञ दो भिन्न दुनिया में रहते हैं और उनकी सोच अलग–अलग होती है। उन्होंने समग्र नजरिए का सुझाव दिया था ताकि विज्ञान के छात्रों में संश्लेषण, सौंदर्य एवं कल्पना और मानविकी तथा कला के छात्रों में विश्लेषण, तर्क एवं वस्तु पर कला के प्रति दिलचस्पी पैदा हो सके। शिक्षा के माध्यम से एक संकल्पना एक परिप्रेक्ष्य एक सांकल्य दृष्टिकोण मुहैया कराया जाना चाहिए जो भौतिक, सामाजिक, भावात्मक और बौद्धिक जीवन को सामाजिक लक्ष्य से जोड़े। शिक्षा का यह उद्देश्य महात्मा गांधी के इन शब्दों में झलकता है ''शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बच्चे के दिमाग शरीर और आत्मा का विकास करे।''इसी तरह श्री अरविंद की सम्यक शिक्षा में शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आध्यात्मिक पहलू शामिल थे।

शिक्षा के अधिकार के तहत आठ वर्षों तक शिक्षा का लक्ष्य छात्र को सच्चाई चेतना और समाज सेवा के प्रति पूरी तरह से जागरूक बनाना होना चाहिए। रवींद्रनाथ टैगोर का मानना था कि शिक्षा प्रकृति की गोद में आनंदपूर्वक सीखने की प्रक्रिया है। व्यक्ति प्रकृति के संसर्ग और खुशनुमा सामाजिक माहौल में रहते हुए बहुत जल्दी ज्ञान अर्जित करता है। इनके बिना शिक्षा नीरस गतिविधि बन जाती है। टैगोर ने इसी प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका को देखा। उनका मानना था कि अच्छा शिक्षक स्वयं सीखने की अपनी ज्वाला को जलाए रखता है। क्या शिक्षा के अधिकार को कार्यान्वित करने वाले लोग इन विचारशील मार्गनिर्देशों को ध्यान में रखेंगे? यदि हम इन शब्दों के निहितार्थ को नहीं समझेंगे तो शिक्षा में बुनियादी सुधार की बजाय केवल न्यूनतम बदलाव ही कर पाएंगे इसलिए हमें शिक्षा को एक प्रणाली और उसकी उप–प्रणालियों के रूप में देखना चाहिए और इतिहास से सुधार की खूबियों तथा खामियों के बारे में सीखना चाहिए।

'प्रणाली' के रूप में शिक्षा

शैक्षिक सुधारों को जब एक प्रणालीगत ढांचे का रूप दिया जाता है तो वे कारगर साबित होते हैं। शिक्षा 'व्यक्ति के कल्याण और समाज की प्रगति' के लिए सामाजिक प्रयासों का अंग होती है। किसी भी प्रणाली में एक–दूसरे से जुड़े कई अवयव होते हैं। यह एक माहौल में काम करती है और सुपर सिस्टम से प्रभावित होती है। यदि शिक्षा एक प्रणाली है तो भारतीय समाज सुपर सिस्टम है। प्रणाली के रूप में शिक्षा को सुपर सिस्टम के कमान से निर्देशित होना चाहिए। प्रणालीगत सोच हमें मुद्दों या समस्याओं को एक–दूसरे से जोड़कर उनके सकल रूप में देखने को प्रेरित करती है। इस तरह हम अतीत की अच्छी बातों को ध्यान में रखते हुए उज्ज्वल भविष्य के लिए काम करते हैं लेकिन यह तभी संभव है जब हम आधे–अधूरे वृत्त की बजाय पूरे वृत्त को देखें। 'सतही नजरिया हमें

मंझधार में छोड़ देता हैं। इसके अतिरिक्त हमारी सोच 'अनुमानों का मकड़जाल' नहीं होनी चाहिए। यह समग्र और साकल्यवादी होनी चाहिए जिसकी जड़ें संस्कृति में हों और जो प्रगति के प्रति वचनबद्ध हो। यह एक ऐसी प्रणाली की पैरोकार हो जो हमारे छात्रों की जड़ें मजबूत करती हो और उन्हें सफल वैश्विक खिलाड़ी बनाती हो।

प्रणाली का स्वरूप

किसी प्रणाली में यूनिटी होती है जो अंगों को एक साथ जोड़े रखती है। हर प्रणाली में उप–प्रणालियां होती हैं जिनके विशेष उद्देश्य कार्य और गतिविधियां होती हैं। ये सब चीजें एक–दूसरे से जुड़ी और जा अन्योन्याश्रित होती हैं। उप–प्रणालियों के बीच संबंध और संबद्धता ही सक्षमता और हम प्रभाविता की कुंजी होती है। प्रणालीगत न सोच के कारण हम समष्टि से शुरुआत न करते हैं और फिर विश्लेषण की तरफ जाते हैं। प्रणालीगत ज्ञान मीमांसा पहले समष्टि से शुरू होती है और फिर अपने एक–एक तत्व का विस्तार करती है। नीति सूत्रीकरण शैक्षिक दृष्टि पर निर्भर करता है। सन् 1937 में गांधीजी के पास बुनियादी शिक्षा या नई तालीम की दृष्टि थी लेकिन अधिकारियों के पास बुनियादी शिक्षा की कोई संकल्पना नहीं थी। शिक्षा नियोजकों ने 1964–66 में राष्ट्रीय शिक्षा आयोग का गठन किया जिसके पास पेशेगत शिक्षा की अपनी दृष्टि थी।

अब हमें संक्षेप में इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या हमने 1947 के बाद प्रणालीगत नजरिया अपनाया। सन् 1947 और 1964 के बीच तीन आयोग गठित किए गए थे–पहला विश्वविद्यालीय शिक्षा पर दूसरा माध्यमिक शिक्षा पर और तीसरा समग्र शिक्षा पर। जब हम इस फैसले का गंभीरता से विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि शीर्ष निर्णयकर्ता विश्लेषणात्मक से संशलेषणात्मक नजरिए की तरफ बढ़ रहे थे, जबकि प्रणालीगत नजरिया इसके ठीक विपरीत होता है।

प्रणालीगत नजरिया पहले समग्र और फिर अवयवों को देखने की मांग करता है। जब हम कहते हैं कि यह अकादमिक धारा है और यह व्यवसायगत धारा है, तो हम विश्लेषणात्मक न्यूनतावादी पृथक नजरिया अपनाते हैं। हम उस प्रणालीगत नजरिए का अनुकरण नहीं करते जो दिमाग, शरीर और आत्मा (गांधी) या शारीरिक, मानसिक भावात्मक और आध्यात्मिक पहलुओं (श्री अरविंद) की पैरवी करता है। संज्ञानार्थक शिक्षा में कार्य कौशल और इसका उलटा शामिल है।

शिक्षा की उप–प्रणाली

शिक्षा की आठ उप–प्रणालियां हैं। यहां हम हरेक की व्याख्या संक्षेप में करेंगे। शैक्षिक दृष्टि और नीति निर्माण शैक्षिक संरचना और पाठ्यक्रम डिलिवरी एवं संव्यावहारिक उप–प्रणाली माध्यम एवं शैक्षिक सामग्री शिक्षक एवं उनका विकास मूल्यांकन एवं परीक्षा शैक्षिक शोध तथा प्रशासन प्रबंधन एवं वित्त।

दृष्टि एवं नीति निर्माण

नीति सूत्रीकरण शैक्षिक दृष्टि पर निर्भर करता है। सन् 1937 में गांधीजी के पास बुनियादी शिक्षा या नई तालीम की दृष्टि थी लेकिन अधिकारियों के पास बुनियादी शिक्षा की कोई संकल्पना नहीं थी। शिक्षा नियोजकों ने (1964–66) में राष्ट्रीय शिक्षा आयोग का गठन किया जिसके पास पेशेगत शिक्षा की अपनी दृष्टि थी। एन.पीई.के पास शिक्षक शिक्षा प्रणाली के काया पलट की अपनी दृष्टि थी।

संरचना और पाठ्यक्रम

एक बार नीतियों का सूत्रीकरण हो जाने पर नियोजकों को संरचनाओं के बारे में सोचना चाहिए। सन् 1947 में मिडिल और हाई स्कूल में सात से दस वर्षों की पढ़ाई होती थी। सन् 1953 के बाद स्कूली शिक्षा 11 वर्षों की और 1966 के बाद 12 वर्षों की हो गई। इन तीनों संरचनाओं का आधार शैक्षिक दृष्टि है। एक बार संरचनाएं बन जाने पर नियोजक करिकुलम और सिलेबस तैयार करते हैं। हमारे पास फिलहाल 1975, 1988, 2000 और 2005 का स्कूल करिकुलम है। शिक्षा के अधिकार के कारण हमें संरचना के बारे में मालूम है लेकिन करिकुलम अब भी 2005 का है। क्या हमें इसकी समीक्षा नहीं करनी चाहिए? या जरूरत पड़ने पर नया करिकुलम नहीं बनाना चाहिए?

डिलिवरी एवं संव्यावहारिक उप–प्रणाली

अगर हम 1947 के अध्यापन के तरीकों पर नजर डालें तो हम 'बोलने और खड़िया से लिखने' का तरीका पाएंगे। पत्राचार प्रणाली 1962 में और मुक्त प्रणाली 1979 में आई। अब डिलिवरी प्रणाली ऑन–लाईन ई–लर्निंग और एम–लर्निंग। (मोबाइल–लर्निंग) में तब्दील हो चुकी है।

सन् 1947 में मिडिल और हाई स्कूल में सात से दस वर्षों की पढ़ाई होती थी। सन् 1953 के बाद स्कूली शिक्षा 11 वर्षों की और 1966 के बाद 12 वर्षों की हो गई। इन तीनों संरचनाओं का आधार शैक्षिक दृष्टि है। एक बार संरचनाएं बन जाने के पश्चात् नियोजक करिकुलम और सिलेबस तैयार करते हैं। ई–सिस्टम या मुक्त शिक्षा प्रणाली शिक्षा के। अधिकार में किस तरह सही बैठती है? क्या यह 6–14 वर्ष के बच्चों के लिए होनी ने चाहिए? यदि हाँ तो कैसे?

माध्यम और शैक्षिक सामग्री

माध्यम और शैक्षिक सामग्री की नीति के 1960 के बाद सामने आई। एन.सीई.आर.टी है द्वारा गुणात्मक पाठ्य पुस्तकों की रचना है और शैक्षिक टेक्नोलॉजी के कारगर इस्तेमाल के बारे में सभी जानते हैं या सन् 1979 में मुक्त स्कूल और 1985 में इग्नू की स्थापना के साथ स्वयं अध्ययन का पैकेज अस्तित्व में आया। देश भर में कक्षाओं एवं एजुकेशनल कम्युनिकेशन कंसोटियम के अन्य कार्यक्रमों की धीरे–धीरे शुरुआत हुई। राज्यों के स्कूली शिक्षा बोर्डों ने गुणात्मक पाठ्य पुस्तकों और शैक्षिक टेक्नोलॉजी के इस्तेमाल को बढ़ावा दिया। नए माध्यम के वे कौन से पहलू हैं जो शिक्षा के अधिकार में अपनी भूमिका कारगर तरीके से निभा सकते हैं?

एन.सीई.आर.टी और मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने पाया कि परीक्षा छात्रों में अनावश्यवक तनाव पैदा करती है इसलिए कक्षा 10 के बाद जैसी कुछ सामान्य बोर्ड परीक्षाओं को खत्म किया जा सकता है। अब सेमेस्टर और ग्रेडिंग प्रणाली की शुरुआत की जा रही है। यह कदम शुरुआती स्तर पर अगतिरोध या स्वतः प्रमोशन की नीति को दर्शाता है।

शिक्षक एवं उनका विकास

भारत में शिक्षकों के प्रशिक्षण का विकास धीरे–धीरे हुआ। सन् 1947 में पर राजस्थान में एक या दो बी.एड. कॉलेज थे। इन–सर्विस एजुकेशन यानी अध्यापन करते हुए प्रशिक्षण लेने की शुरुआत तब नहीं हुई थी। 1950 के दशक में दश एक्स्टेंशन लेक्चर देने और शैक्षिक फिल्में 191 दिखाने के लिए कुछ चुनिंदा शिक्षक प्रशिक्षण केंद्रों में विस्तार केंद्रों की स्थापना हुई लेकिन शिक्षक प्रशिक्षण प्रणाली में 1986 के बाद ही बड़े पैमाने पर परिवर्तन आया। जिला स्तर पर शिक्षक विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा देने के लिए डी.आई.ई.टी की स्थापना की गई जो एक प्रगतिशील कदम था। सन् 1973 में गैर–सांविधिक एन.सी.टी.ई की स्थापना हुई जिसे 1993 में सांविधिक का दर्जा मिला। एन. सी.टी.ई ने 1993 से लेकर 2010 तक अच्छे–बुरे जो भी कदम उठाए वे सर्वविदित हैं। शिक्षा के अधिकार की व्यापक योजना के साथ बुनियादी शिक्षा में कार्यरत शिक्षकों के लिए शिक्षक विकास कार्यक्रम की एक स्पष्ट नीति होनी चाहिए।

मूल्यांकन परीक्षा और प्रमाणन

मूल्यांकन प्रणाली में व्यापक परिवर्तन की प्रेरणा 1950 के दशक में डॉ. बी. ब्लूम के छात्रों से मिली। इन छात्रों ने विषयनिष्ठ आधारित परीक्षा और विषयनिष्ठ परीक्षा सामग्री की रचना का विचार दिया। माध्यमिक शिक्षा बोर्डों ने परीक्षा सुधार के विचार जिसमें परीक्षा पत्र का ब्लू प्रिंट बनाना शामिल था, सही जवाबों की कुंजी की भूमिका और अन्य पर काम करना शुरू कर दिया। संतुलन की अवधारणा भी 1960 के दशक में दृष्टिगोचर होने लगी थी और 1970 के दशक में सतत् और विषद मूल्यांकन की अवधारणा सामने आई। कई शिक्षा बोर्डों ने छात्रों की समयनिष्ठा, सहयोग, स्वच्छता, कर्तव्य परायणता, सत्यनिष्ठा, सेवा की भावना, राष्ट्रीय पहचान आदि विशेषताओं का मूल्यांकन शुरू कर दिया। ओपेन डिस्टेंस एजुकेशन सिस्टम शुरू होने पर स्थिरांक के रूप में उपलब्धि और चर के रूप में

समय पैरा मीटर के साथ क्रेडिट ट्रांसफर और क्रेडिट संचय से संबंधित नवीन रुझानों की भी शुरुआत हुई। इसका विस्तार राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में किया गया है।

सन् 2000 के बाद खासकर 2009 के दौरान एन.सी.ई.आर.टी और मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने पाया कि परीक्षा छात्रों में अनावश्यवक तनाव पैदा करती है इसलिए कक्षा 10 के बाद जैसी कुछ सामान्य बोर्ड परीक्षाओं को खत्म किया जा सकता है। अब सेमेस्टर और ग्रेडिंग प्रणाली की शुरुआत की जा रही है। यह कदम शुरुआती स्तर पर अगतिरोध या स्वतः प्रमोशन की नीति को दर्शाता है।

उपयोगितावाद और आत्म–उत्तरजीविता के बीच गहरा संबंध है। ये दोनों शब्द व्यक्तिवाद की तरफ ले जाते हैं जो कि सामाजिक कल्याण और लोक संग्रह के खिलाफ है। गीता (3.5) में कहा गया है कि मानवता के कल्याण के लिए काम करने की इच्छा होनी चाहिए। मनुष्य को संकीर्णता से ऊपर उठकर अपने को सभी के लिए उपयोगी बनाना चाहिए। यह पहलू त्याग और कठोर श्रम की मांग करता है। भारत के मनीषियों ने हमेशा त्याग और तपस्या पर जोर दिया है। कोई व्यक्ति समाज के लिए तभी उपयोगी हो सकता है जब वह 'मैं' को 'हम' में बदल दे और अपने नैतिक शब्दकोश से 'वे' तथा 'तू' शब्दों को निकाल दे। इसके लिए अतिरिक्त शैक्षिक योगदान समः सर्वेशु भूतेशु (गीता 18.54 और समम पश्यांति सर्वत्र (13.28) की जरूरत पड़ती है। क्या हम 6 से 14 यानी आठ वर्षों की अनिवार्य शिक्षा के दौरान कठोर श्रम तथा सादे जीवन के साथ इस भाव को इस मानस को इस बुनियादी विशेषता को अंतर्विष्ट कर सकते हैं?

निष्कर्ष

ज्ञान की विश्लेषणात्मक समझ में हम प्रायः तथ्यों अवलोकनों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं अनुभूति पर नहीं। लेकिन यहां संकल्पना और अनुभूति एक–दूसरे से घनिश्ठता से जुड़ी हुई हैं। संश्लेषणात्मक अंतः प्रज्ञ संबंध में अनुभूति का निर्माण व्यक्ति की अपनी ज्ञानात्मक संरचनाओं पर होता है। वस्तुपरक ज्ञान के पैरोकारों के प्रतिमान के विपरीत उपलक्षित ज्ञान स्थानीय ज्ञान देशज ज्ञान का अपना मीमांसीय प्रतिमान होता है। किसी को दूसरे की भाषा समझ में नहीं आती। जीवन को समृद्ध बनाने और जीवन–यापन में योगदान करने की अपनी अहम् भूमिका के साथ शिक्षा को व्यक्ति और समाज की समृद्धि की जरूरत है। हमें ऐसे परमाणु विज्ञानियों की जरूरत है जिनकी मज्जा में भारत की समृद्ध विरासत रची–बसी हो। आठ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा को हमारे छात्रों में एक ऐसे मानस का विकास करना चाहिए जिसमें हमारे अतीत के योगदान का गर्व और उभरते वैश्विक बाजार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की इच्छा शक्ति हो।

संदर्भ सूची

1. फायड मैनन, टी.एल. (2006), *द वर्ल्ड इज फ्लैट,* पेंगुइन बुक्स, लंदन, पृ. 19–20।
2. एन.सी.ईआरटी (2001), *इक्सपेरिएंसेज इन स्कूल एजुकेशन,* नई दिल्ली, एन.सीई.आर.टी
3. पॉपर, के.आर. (1963), कंजक्चर्स एंड रिफ्यूटेशंस, राउतलेज एवं केगन पॉल, लंदन, पृ. 31।
4. रीमर्स, एफ. एवं मकज़िन, एन. (1998). *इंफॉर्ड डायलॉगः यूजिंग रिसर्च टू शेप एजुकेशनल पॉलिसी ॲराउंड द वर्ल्ड,* वेस्टपोर्ट सी.टी. प्रेजर, यू. एस. ए., पृ. 94–95।
5. सेन, ए. (2005), *द आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन,* पेंगुइन बुक्स, लंदन, पृ. 77।
6. स्क्रोडिजर, ई. (1964), *माई व्यूज ऑफ द वर्ल्ड,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 130।
7. स्नो, सी.पी. (1998), द टू कल्चर्स, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 121–122।

****